

मोहन राकेश संचयन

मोहन राकेश संचयन

नाटककार और रंगमंच

रंगमंच और शब्द

हिन्दी रंगमंच

## 1. नाटककार और रंगमंच

और लोगों की बात मैं नहीं जानता, केवल अपने लिए कह सकता हूँ कि आज की रंगमंचीय गतिविधि में गहरी दिलचस्पी रखते हुए भी मैं अब तक अपने को उसका एक हिस्सा महसूस नहीं करता। कारण अपने मन की कोई बाधा नहीं, अपने से बाहर की परिस्थितियाँ हैं। एक तो अपने यहाँ, विशेष रूप से हिन्दी में, उस तरह का संगठित रंगमंच है ही नहीं जिसमें नाटककार के एक निश्चित अवयव होने की कल्पना की जा सके, दूसरे उस तरह की कल्पना के लिए मानसिक पृष्ठभूमि भी अब तक बहुत कम तैयार हो पायी है। रंगमंच का जो स्वरूप हमारे सामने है, उसकी पूरी कल्पना परिचालक और उसकी अपेक्षाओं पर निर्भर करती है। नाटककार का प्रतिनिधित्व होता है एक मुद्रित या अमुद्रित पांडुलिपि द्वारा, जिसकी अपनी रचना-प्रक्रिया मंचीकरण की प्रक्रिया से अलग नाटककार के अकेले कक्ष और अकेले व्यक्तित्व तक सीमित रहती है। इसीलिए मंचीकरण की प्रक्रिया में परिचालक को कई तरह की असुविधा का सामना करना पड़ता है—नाटककार से उसे कई तरह की शिकायत भी रहती है। ऐसे में यदि नाटककार समझौता करने के लिए तैयार हो, तो उसकी पांडुलिपि की मनमानी शल्य-चिकित्सा की जाने लगती है—संवाद बदल दिये जाते हैं, स्थितियों में कुछ हेर-फेर कर दिया जाता है और चरित्रों तक में हस्तक्षेप किया जाने लगता है। पर यदि नाटककार का अहं इसमें आड़े आता हो, तो उस पर रंगमंच के 'सीमित ज्ञान' का अभियोग लगाते हुए जैसे मजबूरी में नाटक को 'ज्यों का त्यों' भी प्रस्तुत कर दिया जाता है। नाटककार की स्थिति एक ऐसे 'अजनबी' की रहती है जो केवल इसलिए कि पांडुलिपि उसकी है, एक नाटक के सफल अभिनय के रास्ते में खामखाह अड़ंगा लगा रहा हो। वैसे यह असुविधा भी तभी होती है जब नाटककार दुर्भाग्यवश उसी शहर में रहता हो जहाँ पर कि नाटक खेला जा रहा हो। अन्यथा नाटक को चाहे जिस रूप में खेलकर केवल उसे सूचना-भर दे देने से काम चल जाता है। कुछ वर्ष पहले मेरा नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' इलाहाबाद में खेला गया था, तो उसमें से अम्बिका की भूमिका हटाकर उसकी जगह बाबा की भूमिका रख दी गयी थी। मुझे इसकी सूचना मिली थी नाटक के अभिनय के दो महीने बाद। कुछ परिचालकों की दृष्टि में एक नाटककार को अपने नाटक के साथ इतना ही सम्बन्ध रखना चाहिए कि वह अभिनय की जो थोड़ी-बहुत रायल्टी दी जाए, उसे लेकर सन्तुष्ट हो रहे। कुछ-एक तो नाटककार के इतने अधिकार को भी स्वीकार नहीं करना चाहते। इस सिलसिले में मुझे डेढ़-दो साल पहले बम्बई में सत्यदेव दुबे से हुई बातचीत का ध्यान आता है। दुबे की रंग-निष्ठा का मैं प्रशंसक हूँ, परन्तु आद्य रंगचार्य का 'सुनो जनमेजय' खेलने के बाद इस प्रश्न को लेकर उन्होंने नाटककार के साथ जो रुख अपनाया, वह निःसन्देह प्रशंसनीय नहीं था। मेरी बात उनसे 'सुनो जमनेजय' के सन्दर्भ में ही हुई थी—उससे पहले जब उन्होंने मेरा नाटक खेला था, तो मैंने यह प्रश्न उनके साथ नहीं उठाया था। तब कारण था दुबे की लगन और उनके कार्य के प्रति मेरा व्यक्तिगत स्नेह। 'सुनो जनमेजय' के सन्दर्भ में भी बात रायल्टी को लेकर उतनी नहीं थी, जितनी आज की रंग-सम्भावना में नाटककार के स्थान और उसके अधिकारों को लेकर। वह बातचीत मेरे लिए दुखदायी इसलिए थी कि नाटककार और परिचालक के बीच जिस सम्बन्ध-सूत्र के उत्तरोत्तर दृढ़ होने पर ही हमारी निजी रंगमंच की खोज निर्भर करती है, उसमें उसी को झटक देने की दृष्टि लक्षित होती थी। रंगमंच की पूरी प्रयोग-प्रक्रिया में नाटककार केवल एक अभ्यागत, सम्मानित दर्शक या बाहर की इकाई बना रहे, यह स्थिति मुझे स्वीकार्य नहीं लगती। न ही यह कि नाटककार की प्रयोगशीलता उसकी अपनी अलग चारदीवारी तक सीमित रहे और क्रियात्मक रंगमंच की प्रयोगशीलता उससे दूर अपनी अलग चारदीवारी तक। इन दोनों को एक धरातल पर लाने के लिए अपेक्षित है कि नाटककार पूरी रंग-प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग बन सके। साथ यह भी कि वह उस प्रक्रिया को अपनी प्रयोगशीलता के ही अगले चरण के रूप में देख सके।

यहाँ इतना और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मैं इस बात की वकालत नहीं करना चाह रहा कि बिना नाटककार की उपस्थिति के उसके किसी नाटक की परिचालना की ही न जाए—ऐसी स्थिति की कल्पना अपने में असम्भव ही नहीं, हास्यास्पद भी होगी। न ही मैं यहाँ उस स्थिति पर टिप्पणी करना चाहता हूँ जहाँ नाटककार स्वयं परिचालना का भी दायित्व अपने ऊपर ले लेता है। नाटककार-परिचालन या परिचालना-नाटककार की स्थिति अपने में एक स्वतन्त्र विषय है जिसकी पूर्तियों और अपूर्तियों की चर्चा अलग से की जा सकती है। यद्यपि हमारे यहाँ गम्भीर स्तर पर इस तरह के प्रयोगों से अधिक उदाहरण नहीं हैं, फिर भी

मराठों में पु.ल. देशपांडे और बँगला में उत्पल दत्त के नाट्य-प्रयोग इन दोनों श्रेणियों के अन्तर्गत विचार करने की पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत कर सकते हैं। यहाँ मेरा अभिप्राय नाटक की रचना-प्रक्रिया के रंगमंच की प्रयोगशीलता के साथ जुड़ सकने की सम्भावनाओं से है। एक नाटक की रचना यदि रंग-प्रक्रिया के अन्तर्गत होती है, तो बाद में उसे कहाँ-कहाँ और किस-किस रूप में खेला जाता है, इसमें नाटककार की भांगिता का प्रश्न नहीं रह जाता, रह जाता है केवल उसके अधिकारों का प्रश्न।

रंगमंच के प्रश्न को लेकर पिछले कुछ वर्षों से बहुत गम्भीर स्तर पर विचार किया जाने लगा है—उसकी सम्भावनाओं की दृष्टि से भी और उन खतरों की दृष्टि से भी जो उसके अस्तित्व के लिए चुनौती बनते जा रहे हैं। बड़े-बड़े परिसंवादों में हम बड़े-बड़े प्रश्नों पर विचार करने के लिए जमा होते हैं। रंगमंच को दर्शक तक ले जाने या दर्शक को रंगमंच तक लाने के हमें क्या उपाय करने चाहिए? प्रयोगशील रंगमंच को आर्थिक आधार पर किस तरह जीवित रखा जा सकता है? किन तकनीकी या दूसरे चमत्कारों से रंगमंच को सामान्य दर्शक के लिए अधिक आकर्षक बनाया जा सकता है? सर्वांग (टोटल) रंगमंच की सम्भावनाएँ क्या हैं? विसंगत रंगमंच के बाद की दिशा क्या होगी? घटना-विस्फोट के प्रयोग हमें किस रूप में करने चाहिए? इन सब परिसंवादों में जाकर लगता है कि ये सब बड़ी-बड़ी बातें केवल बात करने के लिए ही की जाती हैं—अपने यहाँ की वास्तविकता के साथ इनका बहुत कम सम्बन्ध रहता है। यूँ उन देशों में भी जहाँ के लिए ये प्रश्न अधिक संगत हैं, अब तक आकर वास्तविकता का साक्षात्कार कुछ दूसरे ही रूप में होने लगा है। बहुत गम्भीर स्तर पर विचार-विमर्श होने के बावजूद रंगमंच (अर्थात् नाटक से सम्बद्ध रंगमंच का अस्तित्व वहाँ भी उत्तरोत्तर अधिक असुरक्षित होता जान पड़ता है। परन्तु हमें उधर के प्रश्नों पर विचार करने का मोह इतना है कि हम शायद तब तक अपनी वास्तविकता के साक्षात्कार से बचे रहना चाहेंगे जब तक कि विश्व-मंच पर 'अर्द्ध-विकसित देशों में रंगमंच की स्थिति' जैसा कोई विषय नहीं उठा दिया जाता और तब भी बात शायद कुछ आँकड़ों के आदान-प्रदान तक ही सीमित रह जाएगी।

हमारे यहाँ या हमारी स्थिति के हर देश में रंगमंच का विकास-क्रम वही होगा जो अन्य विकसित देशों में रहा है, यह भी एक तरह की भ्रान्त धारणा है। शीघ्र से शीघ्र उस विकास-क्रम में से गुजर सकने के प्रयत्न में हम प्रयोगशीलता के नाम पर अनुकरणात्मक प्रयोग करते हुए किन्हीं वास्तविक उपलब्धियों तक नहीं पहुँच सकते, केवल उपलब्धियों के आभास से अपने को अपनी अग्रगामिता का झूठा विश्वास दिला सकते हैं। यह दृष्टि बाहर से रंगमंच को एक 'नया' और 'आधुनिक' रूप देने की है, अपने निजी जीवन और परिवेश के अन्दर से रंगमंच की खोज की नहीं। उस खोज के लिए आवश्यक है अपने जीवन और परिवेश की गहरी पहचान—आज के अपने घात-प्रतिघातों की रंगमंचीय सम्भावनाओं पर दृष्टिपात। यह खोज ही हमें वास्तविक नए प्रयोगों की दिशा में ले जा सकती है और उस रंगशिल्प को आकार दे सकती है जिससे हम स्वयं अब तक परिचित नहीं हैं।

अपने रंग-शिल्प पर बाहरी दृष्टि से विचार करने के कारण ही हम अपने को न्यूनतम उपकरणों की अपेक्षा से बँधा हुआ महसूस करते हैं और यह अपेक्षा तकनीकी विकास के साथ-साथ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। साथ ही हमारी निर्भरता भी बढ़ती जा रही है और हम अपने को एक ऐसी बन्द गली में रुके हुए पा रहे हैं जिसकी सामने की दीवार को इस या उस ओर से बड़े पैमाने पर आर्थिक सहायता पाकर ही तोड़ा जा सकता है। परन्तु मुझे लगता है कि हम इस गली में इसलिए पहुँच गये हैं कि हमने दूसरी किसी गली में मुड़ने की बात सोची ही नहीं—किसी ऐसी गली में जो उतनी हमवार न होते हुए भी कम-से-कम आगे बढ़ते रहने का मार्ग तो दिये रहती। तकनीकी रूप से समृद्ध और संश्लिष्ट रंगमंच भी अपने मन में विकास की एक दिशा है, परन्तु उससे हटकर एक दूसरी दिशा भी है और मुझे लगता है कि हमारे प्रयोगशील रंगमंच की वही दिशा हो सकती है। वह दिशा रंगमंच के शब्द और मानव-पक्ष को समृद्ध बनाने की है—अर्थात् न्यूनतम उपकरणों के साथ संश्लिष्ट से संश्लिष्ट प्रयोग कर सकने की। यहीं रंगमंच में शब्दकार का स्थान महत्त्वपूर्ण हो उठता है—उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण जितना कि हम अब तक समझते आये हैं।

पिछले दिनों दो-एक परिचर्चाओं में मैंने नाटककार के रंगमंच की बात इसी सन्दर्भ में उठायी थी। मैंने पहले ही कहा है कि इसका अर्थ नाटककार को परिचालक की भूमिका देना नहीं है—बल्कि परिचालना-पक्ष पर दिया जानेवाला अतिरिक्त बल हमें अनिवार्यतः जिस गतिरोध की ओर लिये जा रहा है, रंगमंच को उससे मुक्त करना है। शब्दों का रंगमंच केवल शब्दकार का रंगमंच नहीं हो सकता—शब्दकार, परिचालक और अभिनेता, इनके सहयोगी प्रयास से ही उसके स्वरूप का अन्वेषण और परिसंस्कार किया जा सकता है। इसका स्वीकृति-पक्ष है शब्दकार को अपनी रंग-परिकल्पना का आधार-बिन्दु मानकर चलना और अस्वीकृति-पक्ष उन सब आग्रहों से मुक्ति जिनके कारण रंग-परिचालना का मानवेतर पक्ष उत्तरोत्तर अधिक बल पकड़ता दिखाई देता है। इसके लिए अपेक्षित है शब्दकार का पूरी रंग-प्रक्रिया के बीच उसका एक अनिवार्य अंग बनकर जीना—अपने विचार को उस प्रक्रिया के अन्तर्गत ही शब्द देना—उसी तरह अपने आज के लिखे हर शब्द को कल तक के लिए अनिश्चित और अस्थायी मानकर चलना अर्थात् परिचालक और अभिनेता की तरह ही शब्दों के स्तर पर बार-बार रिहर्सल करते हुए आगे बढ़ना। परन्तु यह सम्भव हो सके, इसके लिए परिचालक की दृष्टि में भी एक आमूल परिवर्तन अपेक्षित है—उसे इस मानसिक ग्रन्थि से मुक्त होना होगा कि पूरी रंग-प्रक्रिया का नियामक वह अकेला है। उस स्थिति में वह अकेला नियामक होगा जब इस तरह की रंग-प्रक्रिया के अन्तर्गत एक नाटक का निर्माण हो चुकने के बाद वह उसे प्रस्तुत करने जा रहा हो—अर्थात् जब अन्ततः नाटक एक निश्चित पांडुलिपि या मुद्रित पुस्तक का रूप ले चुका हो। परन्तु जिस रंग-प्रक्रिया के अन्तर्गत वह पांडुलिपि निर्मित हो रही हो, उसमें मूल नियामक नाटककार ही हो सकता है और परिचालक वह मुख्य सहयोगी जो उसके हर अमूर्त विचार को एक मूर्त आकार देकर—या न दे सकने की विवशता सामने लाकर स्वयं भी लेखन-प्रक्रिया में उसी तरह हिस्सेदार हो सकता है जैसे प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया में नाटककार। इसका कुछ अनुभव मुझे उन दिनों का है जिन दिनों कलकत्ते में रहकर मैंने 'लहरों के राजहंस' का तीसरा अंक फिर से लिखा था। मुझे यह स्वीकार करने में संकोच नहीं है कि बिना रात-दिन श्यामानन्द के साथ नाटक के वातावरण में जिये, आधी-आधी रात तक उससे बहस-मुबाहिसे किये, और नाटक की पूरी अन्विति में एक-एक शब्द को परखे वह अंश अपने वर्तमान रूप में कदापि नहीं लिखा जा सकता था। परन्तु साथ यह भी कहना चाहूँगा कि श्यामानन्द के प्रस्तुतीकरण में नाटक का उतना अंश जो शेष अंश से बहुत अलग पड़ गया था, उसके पीछे भी यह सहयोगी प्रयास ही मुख्य कारण था। कम-से-कम हिन्दी नाटक के सन्दर्भ में शायद पहली बार लेखन और प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया को उस रूप में साथ जोड़ा जा सका था। इसे सम्भव बनाने के लिए जो अनुकूल वातावरण मुझे वहाँ मिला था, मैं समझता हूँ कि उसी तरह के वातावरण में रंगमंच की वास्तविक खोज की जा सकती है—लेखन के स्तर पर भी और परिचालना के स्तर पर भी।

(शीर्ष पर वापस)

## 2. रंगमंच और शब्द

(धर्मयुग द्वारा आयोजित एक विशेष परिचर्चा)

राइटर्ज यूनियन में केवियार, बोर्श और शाशलिक का लंच खाने के बाद मीरा के कमरे में नाटककार एलैक्सी आर्बुज़ोफ़ से लम्बी बातचीत हुई।

आर्बुज़ोफ़ के एक ही नाटक से परिचय था जो अँग्रेज़ी में 'प्रॉमिस इन लेनिनग्राड' के शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। कुछ वर्ष पहले दिल्ली में सोम बेगेनल ने 'यात्रिक' की ओर से उसे मंच पर प्रस्तुत किया था।

इंटरप्रेट करने का काम एलबर्ट से नहीं सँभला, तो मीरा ने स्वयं यह दायित्व अपने ऊपर ले लिया। मीरा जिस तरह दोनों ओर की बातों का अनुवाद करती रही, उससे यह अनुमान लगाना कठिन नहीं था कि सोवियत संघ से आनेवाला कोई भी सांस्कृतिक प्रतिनिधिमंडल क्यों इस काम के लिए मीरा को अपने साथ रखना चाहता है।

बातचीत रंगमंच में शब्द और नाटककार की भूमिका को लेकर हुई।

आज पश्चिम के कुछ देशों में सिनेमा की तरह रंगमंच को भी 'निर्देशक का माध्यम' कहा जाने लगा है। क्या सचमुच आनेवाले कल को रंगमंच में नाटककार की वह भूमिका नहीं रह जाएगी जो आज तक रही है? और यदि भूमिका आज से भिन्न होगी, तो किस रूप में?

आर्बुज़ोफ़ का विचार था कि यह केवल एक काल्पनिक संकट है, वास्तविक नहीं।

—वास्तविक प्रश्न नाटककार और निर्देशक के सम्बन्ध का है। जहाँ दोनों के बीच तालमेल नहीं होता, वहाँ स्वाभाविकतया एक संकट खड़ा होता है। पर सही तालमेल रहने पर दोनों एक-दूसरे के पूरक के रूप में काम कर सकते हैं।

निज़ी तौर पर उन्हें अपने यहाँ के निर्देशक से कोई शिकायत नहीं थी, क्योंकि दोनों में अच्छा तालमेल था और उनका आपसी सम्बन्ध एक बहुत अच्छे धरातल पर निभ रहा था।

—पहले एक युवा नाटककार के रूप में अपने निर्देशकों से मेरी यह माँग रहा करती थी कि वे अक्षरशः मेरे दिये रंग-संकेतों के अनुसार चलें। परन्तु समय बीतने के साथ मेरा दृष्टिकोण अब बिल्कुल बदल गया है। अब मैं अपने निर्देशक से अपने लिखे एक-एक शब्द और एक-एक संकेत के अनुसार चलने की माँग नहीं करता। अब मैं इसे एक सहयोगी प्रयास के रूप में लेता हूँ और नाटककार के रूप में मेरी भूमिका उस सहयोग का एक अंग होने में ही है। मेरी दृष्टि में रंगमंचीय निष्पत्ति में निर्देशक तथा अभिनेताओं की भी उतनी ही भूमिका रहती है जितनी नाटककार की।

परन्तु वह रंगमंचीय निष्पत्ति मूलतः किसकी कल्पना पर आधारित होती है? निर्देशक की या नाटककार की?

आर्बुज़ोफ़ का विचार था कि इस निष्पत्ति में दोनों की कल्पना का समान योग रहता है।

—एक निर्देशक भी उतना ही सर्जनात्मक व्यक्ति होता है जितना कि एक नाटककार। रंगमंच पर जो निष्पत्ति सामने आती है, उसका पूरा श्रेय मैं अपने को नहीं दे सकता। एक निर्देशक की सर्जनात्मक प्रतिभा को उसका श्रेय मुझे देना ही चाहिए।

यह मान लेने पर भी कि समूचा रंग-अनुभव बहुतों के, विशेष रूप से नाटककार, निर्देशक और अभिनेताओं के सहयोगी प्रयास पर निर्भर करता है, क्या यह प्रश्न फिर भी बना नहीं रहता कि उस अनुभव का वास्तविक बीज क्या है? बाद में सहयोग की अपेक्षा रखते हुए भी, क्या उस बीज को प्रस्तुत करने में नाटककार की एक अकेली और अनिवार्य भूमिका नहीं है? वह रंगमंच जो आज नाटककार की इस भूमिका को अस्वीकार करना चाहता है, क्या वह अपने प्रयत्नों में नाटकीय रंगमंच के बीज को ही अस्वीकार नहीं कर रहा? नाटककार और निर्देशक के सहयोग की बात जिस स्तर पर सही है, उससे पहले के एक और स्तर को झुठलाकर क्या हम केवल एक आंशिक समाधान तक ही नहीं पहुँचते? क्योंकि एक नाटक के प्रस्तुत किये जाने में नाटककार का क्रियात्मक सहयोग समय और स्थान दोनों दृष्टियों से सीमित होता है। सम्भावना है कि एक नाटक नाटककार के समय के बाद भी खेला जाए और जिस स्थान पर नाटककार रहता है, उससे बाहर तो कई जगह वह खेला ही जाता है। व्यक्ति के रूप में नाटककार के सहयोग की बात भूलकर, उसकी वास्तविक भूमिका को पांडुलिपि की भूमिका के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। जो अस्वीकार है, वह भी एक निश्चित पांडुलिपि का ही अस्वीकार है। क्या यह अस्वीकार आनेवाले कल को नाटक की सम्भावनाओं को अधिक विस्तृत कर देगा या उन्हें केवल बिखरा-भर देगा?

आर्बुज़ोफ़ ने समय और स्थान की सीमा का समर्थन किया।

—मैंने सोवियत यूनियन से बाहर अपने एक नाटक का एक बार ऐसा प्रदर्शन देखा था जो मेरे विचार में मेरे वास्तविक अर्थ के बहुत निकट था, हालाँकि व्यक्तिगत रूप से उस निर्देशक के साथ मेरा कुछ भी सम्पर्क नहीं था। इसके विपरीत यहाँ मास्को में ही एक निर्देशक ने, जिसका मैं नाम नहीं लूँगा, एक बार मेरा एक नाटक इस रूप में प्रस्तुत किया था कि देखने पर मुझे उसमें और सब कुछ मिला—सिवाय अपने नाटक के।

ये दोनों उदाहरण पांडुलिपि की भूमिका को ही रेखांकित करते थे। क्या इस भूमिका को अस्वीकार करके नाटक की सीमाओं का विस्तार करना सम्भव था?

आर्बुज़ोफ़ ने बहुत सतर्क ढंग से अपनी बात रखी।

—बिना नाटककार की पांडुलिपि के भी एक अच्छा नाटकीय प्रस्तुतीकरण सम्भव है। यहाँ तक कि बिना शब्दों के भी।

उन्होंने एक उदाहरण दिया जहाँ नाटक का चरम था, पूरे चार मिनट की निःशब्दता।

परन्तु एक नाटक के अन्तर्गत लम्बी निःशब्दता और आग्रह के साथ किया गया एक शब्दहीन प्रयोग, ये दोनों बिल्कुल अलग-अलग चीज़ें नहीं हैं? शब्दों के बीच की निःशब्दता अपने में नाटकीय तनाव को वहन करने के कारण बहुत सार्थक हो सकती है—उसका अनुपात पहले आये और बाद में आनेवाले शब्दों पर निर्भर करता है। वह अपने शब्दों की यात्रा का ही एक पड़ाव है—दोनों ओर के शब्दों को जोड़ता एक अन्तराल। परन्तु एक वास्तविक रंग-अनुभव को जन्म देने में शब्दों और ध्वनियों की क्या एक अनिवार्य भूमिका नहीं है? यह भूमिका उनकी आज तक की भूमिका से अलग और भिन्न हो सकती है, परन्तु उसकी अनिवार्यता का कारण है एक माध्यम के रूप में नाटकीय रंगमंच का शब्दों और ध्वनियों को निरन्तरता पर निर्भर करना। इस अर्थ में शब्द और ध्वनियाँ इस माध्यम का आधार हैं जबकि...

आर्बुज़ोफ़ ने विरोध किया।

—शब्दों और ध्वनियों को इस माध्यम का आधार आप किस रूप में कह सकते हैं? मैं तो समझता हूँ कि मुख्य रूप से यह एक बिम्ब-प्रधान माध्यम है—या कह सकते हैं शब्दों और बिम्बों का एक सन्तुलित माध्यम। शब्द और ध्वनिप्रधान माध्यम केवल रेडियो-नाटक है।

शब्दों और ध्वनियों को नाटकीय रंगमंच का आधार मानने का अर्थ बिम्ब का अस्वीकार नहीं है। अर्थ केवल इतना है कि इस माध्यम की आन्तरिक निरन्तरता शब्दों और ध्वनियों पर निर्भर करती है। यह उसी तरह है जैसे सिनेमा में यह आन्तरिक निरन्तरता बिम्बों पर निर्भर करती है। भ्रान्ति इसलिए पैदा होती है कि कुछ स्तरों पर एक-सी भूमिका का निर्वाह करने के कारण हम सिनेमा और रंगमंच को, एक नाटकीय अनुभव को जन्म देने की दृष्टि से, परस्पर परिवर्ती माध्यम स्वीकार करके चलते हैं। परन्तु इस दृष्टि से, आज के दो समानान्तर माध्यम होते हुए भी, ये मूलतः एक-दूसरे से भिन्न हैं और परस्पर-परिवर्ती कदापि नहीं हैं। बिम्बों के साथ-साथ शब्दों और ध्वनियों की योजना दोनों में होती है, परन्तु सिनेमा की आधारभूत निरन्तरता लगातार खंडित होते चलते बिम्बों की निरन्तरता है, जबकि रंगमंच में स्थिति सर्वथा इसके विपरीत है। यहाँ बिम्ब अपेक्षया स्थिर रहता है—यन्त्र और विद्युत की सहायता से उसे खंडित करने के सारे प्रयत्न भी इस स्थिरता को एक सीमित अर्थ में ही तोड़ पाते हैं। और सम्भावना के उस स्तर तक तो इसे ले जाया ही नहीं जा सकता जहाँ यह सिनेमा के बिम्ब-परिवर्तन या विखंडन से होड़ ले सके। सिनेमा मूलतः एक दृश्य माध्यम है जहाँ शब्दों और ध्वनियों की एक सहायक अंतः गौड़ भूमिका है। वहाँ दृश्य की अपेक्षा के अनुसार शब्दों और ध्वनियों का संयोजन होता है, और उस माध्यम की प्रगति को देखते हुए लगता है कि आगे चलकर उसकी आधारभूत विशेषता और रेखांकित होगी। इसके विपरीत रंगमंच मूलतः एक श्रव्य माध्यम है।

आर्बुज़ोफ़ ने फिर विरोध किया।

—रंगमंच श्रव्य माध्यम नहीं है। वह भी मूलतः एक दृश्य माध्यम है।

रंगमंच मूलतः दृश्य माध्यम है, यह केवल एक संस्कारगत धारणा नहीं है। इस धारणा का कारण यह अतीत संसर्ग है कि नाटक 'देखा' जाता है। जब तक सिनेमा जैसे माध्यम का आविष्कार नहीं हुआ था, तब तक इस धारणा को लेकर शंका भी नहीं उठती थी। हमारे साहित्य-शास्त्र में तो नाटक को संज्ञा ही दृश्य-काव्य की दी गयी है। परन्तु आज क्योंकि नाटक के दो अलग-अलग माध्यमों की तुलना की जा सकती है, इसलिए मूल तत्त्वों का प्रश्न भी वास्तव में आज ही उठाया जा सकता है। दोनों माध्यमों का मूल अन्तर यही है कि एक में दृश्य की अपेक्षा शब्द को जन्म देती है और दूसरे में शब्द की अपेक्षा दृश्य को। दृश्य और शब्द रहते दोनों में ही हैं, परस्परापेक्षा भी दोनों में दोनों की होती है, परन्तु अलग-अलग अर्थ में, क्योंकि दोनों जगह दोनों की भूमिकाएँ अलग-अलग हैं। रंगमंच में दृश्य की आपेक्षिक स्थिरता के बावजूद जो एक आन्तरिक गति रहती है, वह शब्दों और ध्वनियों की निरन्तरता से ही उपजती है, क्योंकि यहाँ जो 'देखा' जाता है, वह 'सुने जा रहे' का ही रूपान्तर होता है। आज तक ऐसे प्रश्न को उठाने की आवश्यकता अनुभव नहीं की गयी, क्योंकि इस शताब्दी के आरम्भ तक रंगमंच ही एकमात्र नाटकीय माध्यम था। दृश्य के साक्षात्कार का पूरा सुख-सन्तोष हमें उसी से प्राप्त होता था। परन्तु रंगमंच में दृश्य के अधूरेपन ने ही एक नए दृश्य माध्यम को इतनी शीघ्रता से विकसित हो जाने दिया, यहाँ तक कि कुछ ही दर्शकों में रंगमंच के बचे रहने पर ही किया जाने लगा। आज का रंगमंच का संकट भी हमारे फंडामेंटल्स में न जाकर ऊपर-ऊपर से स्थिति का सुधार करने के प्रयत्नों के कारण है। यदि हम रंगमंच की शब्द-निर्भरता को आधार मानकर चलें...

आर्बुज़ोफ़ ने दूसरी आपत्ति की।

—रंगमंचीय नाटक की अतिरिक्त शब्द-निर्भरता ही क्या आज के असन्तोष का वास्तविक कारण नहीं है? इससे मुझे तो लगता है कि वास्तविक स्थिति जो आप कह रहे हैं उससे सर्वथा विपरीत है। और जहाँ तक संकट का प्रश्न है, उसकी बात करना भी मुझे अवास्तविक लगता है क्योंकि पूरे पश्चिम में रंगमंच के दर्शकों की संख्या आज भी बहुत बढ़ी है।

रंगमंच की शब्द-निर्भरता का अर्थ रंगमंच में शब्द की आधारभूत भूमिका है। इस भूमिका का निर्वाह माध्यम की सीमाओं में शब्दों के संयम से हो सकता है, उनके अतिरिक्त तथा अनपेक्षित प्रयोग से नहीं। शब्दों की बाढ़ से, या बिना नाटकीय प्रयोजन के प्रयुक्त शब्दों से, रंग-सिद्धि सम्भव नहीं, क्योंकि बिम्ब को जन्म देने के साथ-साथ उस बिम्ब से संयोजित रहने की सम्भावना भी शब्दों में होनी आवश्यक है। यह प्रश्न शब्दों के प्रयोग में एक विशेष नाटककार की सफलता और असफलता का है। एक विशेष नाटककार का अतिरिक्त शब्द-मोह, या साहित्यिक अथवा अन्य कारणों से अनपेक्षित शब्दों के प्रयोग का उसका आग्रह, उद्भूत बिम्ब से शब्दों के संयोजित न हो सकने के कारण रंग-अनुभव के मार्ग में बाधा भी बन सकता है। क्योंकि स्थापना इतना ही है कि रंगमंच में बिम्ब का उद्भव शब्दों के बीज से होता है।

यहाँ आकर आर्बुज़ोफ़ ने भी वही प्रश्न किया जो कुछ दिन पहले दिल्ली में हुई बातचीत में जर्मन निर्देशक मेहरिंग (बिल्ली चली पहनकर जूता) ने किया था।

—ऐसे में मूक अभिनय के लिए आप क्या कहेंगे? क्या वह अपने में एक सम्पूर्ण रंग-अनुभव नहीं है?

स्वतन्त्र मूक अभिनय रंगमंच का एक अलग प्रकार है जिसका अलग से विवेचन किया जा सकता है। नाटकीय रंगमंच के अन्तर्गत मूक अभिनय भी लम्बी निःशब्दता की तरह शब्दों के बीच की कड़ी है। शब्दों से उद्भूत बिम्ब में से एक बिम्ब यह भी हो सकता है, होता है। हमारा भाषा-संस्कार इस बात का प्रमाण है कि शब्दों की यात्रा में बहुत बार बहुत कुछ अनकहे शब्दों द्वारा कहा जाता है। ये अनकहे शब्द बिम्ब के साथ-साथ यात्रा करते हुए बिना ध्वनियों के भी अपना अर्थ ध्वनित कर देते हैं। परन्तु स्वतन्त्र मूक अभिनय को नाटकीय रंगमंच के प्रश्न से अलग करके देखना होगा। जैसे रेडियो-नाटक केवल श्रव्य माध्यम है, उसी तरह इसे केवल दृश्य माध्यम के रूप में स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। इतना फिर भी कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र मूक अभिनय को जितनी सार्थकता के साथ सिनेमाई स्क्रीन पर प्रस्तुत किया जा सकता है, उतनी सार्थकता के साथ रंगमंच पर नहीं। इसके बावजूद संसार के सुप्रसिद्ध मूक अभिनेताओं के रंगमंच को अपनाये रहने का कारण रंगमंच का तीसरा आयाम भी है और अभिनय को व्यक्तिगत प्रदर्शनी तक सीमित रखने का व्यावसायिक आग्रह भी। सम्भवतः यही कारण है कि रंगमंच में बिम्ब की एकतारता से सीमित होने के कारण अधिकांशतः मूक-अभिनय छोटे-छोटे कथा-खंडों या अनुभव-खंडों में विभाजित रहता है। उसे सम्पूर्ण नाटकीय भूमिका देने के छिटपुट प्रयत्न अजायबघरी कला-प्रयोगों के रूप में थोड़ी-बहुत सफलता भले ही प्राप्त कर लें, रंग-नाटक का सामान्य स्वर वे कभी नहीं बन सकते, जब तक कि स्लाइड्ज या दूसरे ऐसे ही माध्यमों से उन्हें शब्दों की सहायता न दी जाए।

आर्बुज़ोफ़ का विचार फिर भी यही था कि रंग-अनुभव की सार्थकता दृश्य और श्रव्य के सामंजस्य में है और इस सामंजस्य को छोड़कर और कुछ महत्त्व नहीं रखता।

सामंजस्य की बात बिल्कुल सही है, इसे अस्वीकार करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। प्रश्न केवल सामंजस्य के स्वरूप का है। अलग-अलग नाटकीय माध्यमों में इस सामंजस्य का स्वरूप अलग-अलग है। एक जगह, अर्थात् सिनेमा में, इस सामंजस्य में, मुख्य भूमिका बिम्ब की है और दूसरी जगह, अर्थात् रंगमंच में, शब्द की। पिछले कुछ वर्षों में, एक बिम्बाश्रयी माध्यम होने के नाते, सिनेमा ने जिस रूप में प्रगति की है और अपने लिए नए आयामों को खोजने का प्रयत्न किया है, उसी के प्रभाव से वे लोग जो किसी-न-किसी रूप में इन दोनों को प्रतिस्पर्धात्मक माध्यम मानकर चलते हैं, रंगमंच में भी शब्द की भूमिका का तिरस्कार करने लगे हैं। इसी दृष्टि के कारण एक ओर रंगमंच में दृश्य का जादू खड़ा करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला है, तो दूसरी ओर सिनेमा की तरह ही खुले सेक्स-सम्बन्धों तथा नग्नता के चित्रण पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा है। इनमें से दूसरी प्रवृत्ति सम्भवतः यहाँ के रंगमंच में नहीं है हालाँकि अब तक मैंने यहाँ का रंगमंच अधिक नहीं देखा...।

आर्बुज़ोफ़ सन्तुष्ट नहीं हुए।

—आप यह मानकर चल रहे हैं कि रंगमंच में आज एक संकट का अनुभव किया जा रहा है, जबकि मैं इस मान्यता से ही सहमत नहीं हूँ। जैसा कि मैंने पहले कहा है, पश्चिम में रंगमंच आज भी बहुत लोकप्रिय है। इसलिए यहाँ के सन्दर्भ में प्रतिस्पर्धा का प्रश्न केवल काल्पनिक है। हमारे यहाँ सभी तरह का रंगमंच है—लिखित नाटकों पर आधारित रंगमंच भी और ऐसा रंगमंच भी जो केवल दृश्य-प्रधान है और किसी साहित्य-कृति के आधार की अपेक्षा नहीं रखता। दोनों का अपना-अपना स्थान है और दर्शक-वर्ग दोनों में एक-सी रुचि रखता है। अगर आप मुझसे पूछें, तो मैं कहूँगा कि हमारे नाट्य-लेखन में आज तक इतनी अधिक साहित्यिकता है कि जितनी जल्दी उसके अतिरेक को झाड़ा जा सके, उतना ही अच्छा है।

इसमें मतभेद नहीं है कि इस अतिरिक्त साहित्यिकता से नाट्य-लेखन को जितनी जल्दी और जिस मात्रा में मुक्त किया जा सके, करना चाहिए। नाट्य-लेखन के आधार के रूप में जिस स्वीकृति की बात की जा रही है, वह इस साहित्यिकता की नहीं, शब्द की दायित्व की है। नाट्य-लेखन में साहित्यिकता के आग्रह के लिए हम लोग स्वयं भी अपनी-अपनी आलोचना कर सकते हैं। परन्तु कल के रंगमंच के सम्बन्ध में सोचते हुए हमें इस आत्मालोचना से भ्रान्त नहीं होना चाहिए। यहाँ जिस चीज़ को रेखांकित किया जा रहा है, वह रंगमंच में साहित्यिक शब्द के प्रयोग का आग्रह नहीं, अनुकूल नाटकीय शब्द की अनिवार्यता का आग्रह है। नाटकीय रंगमंच में शब्द का तिरस्कार अन्ततः इस रंगमंच के अस्तित्व के लिए ही चुनौती बन जाएगा, क्योंकि तकनीकी इन्द्रजाल से रंगमंच की दृश्य सम्भवनाओं को अधिकाधिक विस्तृत करने के सारे प्रयत्न अन्ततः सिनेमा की तुलना में उसकी सीमाओं और विशेषताओं को ही सामने लाते हैं। जहाँ तक पश्चिम में रंगमंच की लोकप्रियता का प्रश्न है, वह या तो एक वर्ग के आज तक के साहित्यिक एवं नाट्य-संस्कार पर आधारित है, या दूसरे वर्ग की त्रि-आयामी नग्नता की भूख पर। यह विश्लेषण गम्भीर रंगमंच को लेकर है, हीन स्तर के उस रंगमंच को लेकर नहीं जो किसी भी तरह के व्यावसायिक लटके अपनाकर लोगों को अपने त्रि-आयामी आकर्षण में बाँध रखना चाहता है। सवाल एक चली आ रही परंपरा और रोज़मर्रा की एक आदत का भी है। फिर भी पिछले बीस वर्षों में स्थिति शायद बहुत बदल गयी होती, अगर प्रायः सभी देशों में रंगमंच को बड़े पैमाने पर राजकीय सहायता न दी जाती। एक देश से दूसरे देश की स्थिति में मौलिक अन्तर हो सकता है—सम्भव है समाजवादी देशों में फिलहाल परिस्थिति का दबाव उस रूप में महसूस न किया जा रहा हो जिस रूप में अन्य देशों में। इसलिए जिस संकट की बात की जा रही है, वह इस विशेष सन्दर्भ में केवल काल्पनिक लग सकता है, पर विश्व रंगमंच की कल की दिशा को लेकर सोचने पर आज के निर्देशक और नाटककार के लिए यह एक वास्तविक संकट है, जिसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि एब्सर्स नाटक से आगे जीवन के वर्तमान सन्दर्भ का कोई बड़ा नाटक पिछले दशक में सामने नहीं आया। इसलिए स्वीकार किया जा सकता है कि आज के रंगमंच के लिए उपयुक्त शब्द प्रस्तुत करने में समकालीन नाटककार बहुत हद तक असफल रहा है। सिनेमा की दृश्यात्मकता में इन वर्षों में क्योंकि बहुत प्रगति हुई है, इसलिए रंगमंच के पिछड़ेपन का एहसास भी शायद बहुत से लोगों के लिए एक कुंठा बन गया है...।

आर्बुज़ोफ़ पल-भर सोचते रहे।

—यदि इस तर्क से चला जाए, तो आनेवाले कल के लिए किस तरह के रंगमंच की कल्पना करनी चाहिए?

रंगमंच का मूल तर्क ही रहा है उसकी प्रतीकात्मकता और सादगी। प्रतीकात्मकता को यदि कल के लिए उस रूप में स्वीकार न भी किया जाए, तो उसकी सादगी को बनाये रखना बहुत आवश्यक है। रंगमंच को किसी भी तरह की चकाचौंध का पर्याय बना देना उसके अन्तर्हित तर्क को ही पराजित करना है। शब्द, अभिनेता और इन दोनों का संयोजन करनेवाले निर्देशक के अतिरिक्त और कुछ ऐसा नहीं है जो नाटकीय रंगमंच की अनिवार्य शर्त हो। पर इससे शब्द का दायित्व बहुत बढ़ जाता है। शब्द के दायित्व का अर्थ है नाटककार का दायित्व जिसे वह आज पूरा कर पा रहा। मैं सिनेमाई अभिनय की तुलना में रंगमंचीय अभिनय में अभिनेता की उन्मुक्तता को भी बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूँ, परन्तु यह उन्मुक्तता तभी सार्थक हो सकती है जब वह उस संयम के अन्तर्गत हो जो शब्दों का है...।

आर्बुज़ोफ़ ने एक और आपत्ति की।

—शब्दों के संयम में एक अभिनेता के लिए आशुता (इम्प्रोवाइज़ेशन) की कितनी सम्भावना रह जाती है? आप सहमत होंगे कि

एक महान अभिनेता बिना शब्दों के भी अपनी आन्तरिक उद्भावनाओं से महान नाट्य-अनुभव की सृष्टि कर सकता है।

शब्दों के संयम का अर्थ शब्दों का कठघरा नहीं है। एक महान नाट्य-अनुभव में अभिनेता की उद्भावनाओं का बहुत बड़ा योग रहता है, परन्तु उन उद्भावनाओं की भूमि बोले या अनबोले शब्दों द्वारा ही प्रस्तुत की जाती है। क्योंकि वास्तविक अभिनय शब्दों 'का' नहीं, शब्दों 'के बीच में' होता है। परन्तु यदि शब्दों के संयम को बीच से बिलकुल निकाल दिया जाए, तो केवल अभिनेता की उद्भावनाओं से वहाँ तो महान नाट्य-अनुभव सम्भव है जहाँ अभिनेता स्वयं अपने लिए शब्द-रचना की भी बहुत बड़ी क्षमता रखता है। अन्यथा एकाध फ्रीक उदाहरण को छोड़कर, प्रायः सम्भावना यही है कि अधिकांश 'हैपनिंगज़' की तरह सारी चीज़ आवेश से बिखराव तक की यात्रा बनकर रह जाए।

आर्बुज़ोफ़ मुस्कराए।

—मैं अब तक एक तरह से अपने से ही तर्क कर रहा था। वैसे मैं आपकी आधार-दृष्टि से असहमत नहीं हूँ कि नाटकीय रंगमंच के एक निष्पत्ति तक पहुँचने में पहली भूमिका नाटककार की है। मूल भाव और ढाँचे उसी के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यह भी सच है कि बहुत बार अभिनेता तथा निर्देशक उसमें से ऐसे सूक्ष्म अर्थ ढूँढ़ निकालते हैं जिन्हें सचेत रूप से नाटककार स्वयं पहले से नहीं जानता। परन्तु नाटककार द्वारा अनजाने होकर भी ये सूक्ष्म अर्थ उस रचना में ही अन्तर्हित होते हैं। मेरा आरम्भिक विरोध इसलिए भी था कि मुझे लगा कि आप शब्द और ध्वनि को रंगमंच का एकमात्र तत्त्व मानते हैं...।

बात एकमात्र तत्त्व की नहीं, रंगमंच के आधारभूत तत्त्व या उसकी पहली आन्तरिक अपेक्षा की है। कथ्य इतना ही है कि दृश्य अपने में रंगमंच का अनिवार्य तत्त्व होते हुए भी अपने में स्वतन्त्र नहीं। वह एक परिणति है—शब्द की। और व्यापक अर्थ में शब्द का अर्थ शब्द और ध्वनि दोनों हैं।

एक बात उन्होंने फिर भी दोहरायी।

—यह सब ठीक है, पर अपने यहाँ इस दृष्टि से मुझे कोई संकट नज़र नहीं आता। हो सकता है आपके देश की परिस्थिति बहुत भिन्न हो...।

एक देश में क्या परिस्थिति है, बात इसकी ही नहीं। बात रंगमंच के रूप में रंगमंच के प्रश्नों पर सोचने की है, यद्यपि एक विशेष व्यक्ति के सोचने का कारण उसके अपने परिवेश में उन प्रश्नों की प्रासंगिकता ही हो सकती है। हमारा रंगमंच जो कुछ ही समय पहले तक पश्चिमी रंगमंच के सोच-विचार तथा आन्दोलनों से जुड़कर अपना विकास करने की दिशा में उन्मुख था, इधर आकर बहुत हद तक इस मोह से मुक्त हुआ है। हमारे आज के प्रश्न निःसन्देह हमारे अपने सन्दर्भ के हैं, परन्तु व्यापक रूप से वे समूचे रंगमंच के आधारभूत प्रश्न भी हैं।

कुछ देर गौटोव्स्की के प्रयोगों तथा 'प्रामिस इन लेनिनग्राड' के दिल्ली-प्रदर्शन की चर्चा के बाद बातचीत समाप्त हुई।

(शीर्ष पर वापस)

### 3. हिन्दी रंगमंच

पहली बार सुनने पर यूँ तो हिन्दी रंगमंच, यह प्रयोग ही ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि भाषा का सम्बन्ध नाटक के साथ हो सकता है, रंगमंच के साथ नहीं। परन्तु नाटक जनजीवन की सांस्कृतिक मान्यताओं के अतिरिक्त एक भाषा की साहित्यिक उपलब्धियों का भी प्रतिनिधित्व करता है, इस नाते एक भाषा के नाट्य साहित्य के अनुकूल रंगमंच की कुछ विशेषताओं की कल्पना की जा सकती है। आज हिन्दी रंगमंच का प्रश्न इसी सन्दर्भ में उठा है। कहने को यह भी कहा जाता है कि हिन्दी का, अर्थात् हिन्दी नाटक का विशेष रंगमंच अभी विकसित हुआ ही नहीं है, न ही उसके विकसित होने की विशेष सम्भावना दिखाई दे रही है, क्योंकि हिन्दी नाटक रंगमंच की किसी विशेष परंपरा के साथ अनुस्यूत नहीं है। गाहे-बगाहे, जहाँ-तहाँ नाटक खेलने के जो शौकिया प्रयत्न किये जाते हैं, उन्हीं से प्रेरणा लेकर और आंशिक रूप से पाश्चात्य रंगमंच के रूप-विधान से प्रभावित होकर कुछ ही नाटक, विशेषतया एकांकी, ऐसे लिखे गये हैं, जिनकी अभिनेयता के सम्बन्ध में लेखकों की स्पष्ट धारणा का परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त सिनेमा और रेडियो-नाटक के विशिष्ट शिल्प का विकास हो जाने से, रंगमंच की सीमित परिधि में खेले जानेवाले नाटक के लिए वैसे भी खास सम्भावनाएँ नहीं रह गयी हैं। इसलिए हिन्दी रंगमंच और उसके विकास का प्रश्न वास्तविक न होकर हवाई-सा ही है।

परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। हिन्दी नाटक को रंगमंच की निश्चित परंपरा नहीं मिलती है, इसका यह अर्थ नहीं है कि आगे एक परंपरा के विकास की सम्भावना भी नहीं है। सिनेमा और रेडियो के विशिष्ट और विकसित शिल्प के बावजूद उनकी अपनी सीमाएँ हैं। रेडियो-नाटक मात्र ध्वनि की सीमाओं में आबद्ध है, और श्रोता को अपने लिए अपनी कल्पना से चित्रों के निर्माण का आयास करना पड़ता है। तीसरे आयाम का अभाव सिनेमा नाटक की सीमा है, जिसके कारण पर्दे पर दिखाई देनेवाली रंगीन या कृष्ण-श्वेत छायाकृतियाँ अयथार्थ के भ्रम को नहीं मिटा पातीं। सिनेमा में तीसरे आयाम का विस्तार हो जाने पर भी कैमरे की आँख से देखे गये चरित्र जीते-जागते इन्सानों का स्थान न ले पाएँगे, इसलिए रंगमंच की सम्भावनाएँ असन्दिग्ध हैं। रंगमंचीय नाटकों में बढ़ती हुई लोकरुचि इस बात का प्रमाण है।

दूसरे, समाज के सभी क्षेत्रों और वर्गों के लोगों में अभिनय की रुचि वर्तमान रहती है। सिनेमा और रेडियो सबकी अभिनय-रुचि

की परितृप्ति का साधन नहीं बन सकते, उनके लिए रंगमंच ही एक एकमात्र साधन है। रंगमंच सिनेमा और रेडियो के लिए अच्छे चरित्रों के चयन का केन्द्र भी बन सकता है।

बहुत बार ऐसा होता है कि रंगमंच की अपेक्षाओं के अनुसार नाटकों की रचना की जाती है, पर कई बार ऐसा भी होता है कि एक नाटक के लिए विशेष रंगमंच का संयोजन किया जाता है। परन्तु दोनों ही स्थितियों में नाटककार के सामने रंगमंच के रूपविधान का स्पष्ट होना आवश्यक है। तथाकथित साहित्यिक नाटक साहित्य-कृति होते हुए भी नाटक नहीं होता। विचार और भावपूर्ण गुम्फित भाषा नाटकीयता की कसौटी नहीं है। संवादों और घटनाओं को दृश्यों और अंकों में बाँट देना ही पर्याप्त नहीं, नाटककार के लिए यह आवश्यक है कि वह जो कुछ लिखता है उसे आँख मूँदकर अपनी कल्पना के रंगमंच पर घटित होते हुए भी देखे। लिखा हुआ नाटक अपने में पूर्ण कृति नहीं होती। रंगमंच की पृष्ठभूमि और पात्रों का अभिनय उसे पूर्णता प्रदान करते हैं। एक कृति के रूप में नाटक तभी सफलता प्राप्त कर सकता है जबकि उसमें रंगमंच पर अभिनीत होने की सम्भावनाएँ निहित हों। अन्यथा कहानी और उपन्यास उससे कहीं पूर्ण रचनाएँ हैं। उनमें पृष्ठभूमि और चरित्रों की भाव-भंगिमाओं आदि का वर्णन विस्तारपूर्वक कर दिया जाता है। कहानी और उपन्यास अपना वातावरण अपने में लिये रहते हैं जबकि नाटक का वातावरण रंगमंच पर ही प्रस्तुत होता है। लिखा गया नाटक एक हड्डियों के ढाँचे की तरह है जिसे रंगमंच का वातावरण ही मांसलता प्रदान करता है।

जहाँ हिन्दी नाटक का उदय सदियों के व्यवधान के बाद संस्कृत नाटक की परंपरा में और उसी की विरासत लेकर हुआ, वहाँ हिन्दी रंगमंच ने उन पारसी कम्पनियों की हीन और गली-सड़ी विरासत लेकर जन्म लिया, जो स्वयं घटिया दर्जे के यूनानी रंगमंच से प्रेरणा लेकर पनपी थीं। लकड़ी के तख्ते, चार-छः भोंडे रंगे हुए गोल होकर उठनेवाले पर्दे, एक ड्राप सीन और रंगमंच तैयार। पर्दों के दृश्यों का भी एक निश्चित-सा फ़ार्मूला था। एक पर्दा उद्यान का, जिसके पीछे सरोवर या नदी का दृश्य होता था। एक बाज़ार का पर्दा होता था, जिसमें लाल रंग के लैटर-बॉक्स होना ज़रूरी था। राम-लक्ष्मण ऋषि विश्वामित्र के साथ बात करते हुए उसी लैटर-बॉक्स वाले बाज़ार से गुज़रा करते थे। रामायण काल, महाभारत काल और आधुनिक काल के लोगों की वेशभूषा प्रायः एक सी होती थी। राजा दशरथ और राक्षसराज रावण एक सी मुगलिया फ़ैशन की कन्धारी जूतियाँ पहनते थे। पर्दों के पीछे राम और लक्ष्मण में इस बात पर लड़ाई हो जाती थी कि दोनों में से किसका पार्ट ज़्यादा लम्बा है और किसे ठर्रे की मात्रा अधिक मिलनी चाहिए। एक बार एक ऐसी ही कम्पनी के लक्ष्मण स्टेज पर जाने से पहले ठर्रा ज़रा ज़्यादा चढ़ा गये थे, इसलिए उन्हें एक बार जो मूर्छा पड़ी तो हनुमान के संजीवनी लेकर लौट आने पर भी नहीं टूटी। बेचारे राम रो-रोकर और गा-गाकर परेशान हुए जा रहे हैं, मगर लक्ष्मण को वारुणी का ऐसा तीर लगा है कि होश ही नहीं आता। आखिर राम और सुग्रीव को मिलकर लक्ष्मण को स्टेज से उठाकर ले जाना पड़ा। कई बार मूर्छित होने या मरने के हृदयविदारक दृश्यों पर जनता की इतनी दाद मिलती थी कि मूर्छित होने या मरनेवाले को फिर से उस अभिनय को दोहराना पड़ता था। चक्रव्यूह में घिरा हुआ वीर बालक अभिमन्यु मरता हुआ दुर्योधनादि की भर्त्सना कर रहा है :

कायरो, पापियो, माता का दूध लजानेवाले निर्लज्जो, क्षत्रियों के वंश को कलंकित करने वाले राक्षसो, इधर देखो—

मेरे सोने के लिए है पृथ्वी पर्यंक।

और तुम्हारे वास्ते है यह वीर कलंक॥

हट जाओ, हट जाओ, अब भी मैं तुम सबके लिए बहुत हूँ। मरते-मरते भी अपनी मुष्टिका से दो चार को चूर्ण कर दूँगा। कार्य सम्पूर्ण कर दूँगा। आह!

अभिमन्यु गिर जाता है, सारे हॉल में तालियाँ बजती हैं और मरहबा-मरहबा की आवाज़ें आती हैं और अभिमन्यु एक बार फिर उसी तरह मरने के लिए उठकर खड़ा हो जाता है :

कायरो, पापियो, माता का दूध लजाने वाले निर्लज्जो...! इत्यादि।

हिन्दी में कविरत्न पंडित राधेश्याम कथावाचक की कृतियाँ ही इस रंगमंच के अनुकूल बन सकीं। इससे अधिक की शायद आशा भी नहीं की जा सकती थी। हिन्दी नाटक के उदय काल में भारतेन्दु बाबू ने इस दकियानूसी परंपरा से हटकर नए रंगमंच की स्थापना का प्रथम प्रयत्न किया था। परन्तु अपने सीमित साधनों और व्यापक सहयोग के अभाव के कारण उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में रंगमंच के सम्बन्ध में उनकी स्पष्ट दृष्टि का परिचय अवश्य मिलता है। लोकरुचि और परंपरा दोनों को मान्यता देते हुए उन्होंने संस्कृत नाटक के रंगशिल्प को नए साँचे में ढालने का प्रयत्न किया। भारतेन्दु की पात्र-कल्पना तथा उनके दृश्य-संयोजन जन-साधारण में नाटक की स्थापना की दृष्टि को व्यक्त करते हैं। यह हिन्दी रंगमंच का प्रथम उत्थान था। भारतेन्दु की दृष्टि को आगे विकसित किया जाता तो अब तक हिन्दी रंगमंच का एक निश्चित रूप हमारे सामने आ गया होता। परन्तु उनके बाद रंगमंच का क्षेत्र 'वीर अभिमन्यु' जैसे नाटकों के लिए छोड़कर हिन्दी के साहित्य-स्रष्टाओं ने एक दूसरा ही मार्ग चुन लिया। प्रसादजी ने पारसी कम्पनियों की परंपरा से तो नाता तोड़ा पर न उन्होंने भारतेन्दु की परंपरा को आगे ले जाने का प्रयत्न किया और न ही रंगमंच की किसी नई परंपरा का संकेत दिया। यद्यपि उनका विचार था कि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरुचि-सम्पन्न सामाजिक हों और पर्याप्त द्रव्य काम में लाया जाए तो उनके नाटक अभिनीत होकर अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं, पर उनके नाटकों के शिल्प को देखते हुए उनसे सहमत होना असम्भव प्रतीत होता है। उन्होंने अपने विचार की पुष्टि के लिए 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' जैसे संस्कृत नाटकों का उदाहरण दिया है। परन्तु 'शाकुन्तलम्' तथा अन्य संस्कृत नाटकों में जो अपनी ही एक यूनैटी है, वह प्रसादजी के नाटकों में नहीं पायी जाती। 'शाकुन्तलम्' पूरा का पूरा अभिनेय है। रथ के दृश्यों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किये जा सकते, परन्तु वास्तव में वहाँ रंगमंच पर रथ की उपस्थिति का आभास-मात्र देना अभिप्रेत है—'पश्य' के बाद वर्णित किया जानेवाला सब कुछ नेपथ्य में संकेतित होता है, रंगमंच पर घटित होता नहीं दिखाया जाता। इसी तरह भास के नाटक भी असंदिग्ध रूप से अभिनेय हैं। परन्तु प्रसादजी के नाटकों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। प्रसादजी का रंगमंच के साथ सम्पर्क नहीं रहा, शायद इसीलिए वे रंगमंच की सीमाओं से परिचित नहीं हो सके। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के द्वितीय अंक के आठवें दृश्य में मालविका और चन्द्रगुप्त रावी के तट पर कुछ सैनिकों के साथ खड़े हैं और नदी में दूर पर कुछ नावें दिखाई दे रही हैं। सिंहरण के संकेत करने पर नावें चली जाती हैं। फिर एक नाव तेज़ी से आती है और उस पर से अलका उतर पड़ती है। हमें आश्चर्य होता है कि ऐसे-ऐसे दृश्यों की योजना करते समय प्रसादजी ने किस तरह के रंगमंच की कल्पना की होगी? यदि यह कहा जाए कि चित्रपट को दृष्टि में रखकर उनहोंने ऐसा किया होगा तो और भी खेद होता है क्योंकि चित्रपट के नाटक की और कई अपेक्षाएँ हं और उसमें संवाद बहुत कम होते हैं। 'चन्द्रगुप्त' जैसे नाटक को यदि ज्यों का त्यों चित्रपट पर प्रस्तुत किया जाए तो उसके लिए शायद लगभग पचास हज़ार फुट फ़िल्म की ज़रूरत पड़ेगी और दर्शक को हॉल में लगभग बारह घंटे बैठना होगा।

प्रसादजी के नाटकों को प्रांजल भाषा, भाव-गम्भीरता और साहित्यिक उपलब्धि का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि रंगमंच के साथ

नाटक के सम्बन्ध की चेतना ही लुप्त हो गयी। इस चेतना का पुनर्विकास हिन्दी में एमेच्योर रंगमंच के उदय के साथ हुआ है। एमेच्योर रंगमंच की बढ़ती हुई माँग के कारण पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में रंगमंच के अनुकूल सामाजिक और ऐतिहासिक नाटक, विशेष रूप से एकांकी नाटक की रचना की गयी है। परन्तु हमारे एमेच्योर रंगमंच का निर्माण भी पाश्चात्य रंगमंच की नक़ल में ही हुआ है, इसलिए उसका अपना व्यक्तित्व अभी तक भी नहीं निखर पाया है। पाश्चात्य नाटक प्रायः ड्राइंग-रूम के सेट पर लिखा जाता रहा है, इसलिए हमारे यहाँ का सामाजिक नाटक भी अधिकांशतः मध्यम वर्ग के घर के ऐसे सेट को दृष्टि में रखकर लिखा जाता रहा है, जहाँ मेज़-कुर्सियाँ, बुक-शेल्फ़ और टेबल-लैम्प इत्यादि चीज़ें अनिवार्य-सी होती हैं। ज़्यादा हिंदुस्तानीपन लाना हुआ तो महावीर आदि की तस्वीरें पृष्ठभूमि में लटका दी गयीं। इस तरह के सेट की कल्पना नाटक को अधिकांशतः शहरी वर्ग तक सीमित कर देती है और नाटककार के लिए जीवन के वस्तुविस्तार को भी सीमित कर देती है। रंगमंच के विषय में सोचते हुए हम पाश्चात्य नाटक के रंग-शिल्प को दृष्टि में रखें और हिन्दी के निजी रंगमंच के विकास की बात करें, इसमें असंगति ही प्रतीत होती है। हिन्दी रंगमंच के विकास से निःसन्देह हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि अत्याधुनिक सुविधाओं से सम्पन्न रंगशालाएँ राजकीय या अर्द्ध-राजकीय संस्थाओं द्वारा बनवा दी जाएँ, जहाँ हिन्दी के नाटककारों की रचनाओं का प्रदर्शन किया जा सके। यह प्रश्न केवल आर्थिक सुविधा का नहीं, एक सांस्कृतिक दृष्टि का है। हिन्दी का वास्तविक रंगमंच राजकीय आयोजनों से नहीं, समर्थ नाटककारों और अभिनेताओं तथा दिग्दर्शकों के हाथों विकसित होगा। यदि नाटक जीवन के द्वन्द्वों का चित्रण करेगा तो रंगमंच को भी जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल ढलना होगा। हिन्दी रंगमंच को हिन्दी-भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतीक बनना होगा। हमारा रंगों और राशियों का विवेक नए रंगमंच की सज्जा को बल देगा। हमारे दैनन्दिन जीवन के राग-रंग को प्रस्तुत करने के लिए, हमारे ब्याह-त्योहारों के स्पन्दनों को आकार देने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य शैली के रंगमंच से कहीं खुला होना चाहिए। हरे या स्लेटी रंग की पृष्ठभूमि की बजाय हम हल्दी, चन्दन और गेरू के रंगों का स्पर्श देकर ऐसी पृष्ठभूमि की रचना कर सकते हैं जो सभी तरह के दृश्यों को प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त और आँखों पर सुखकर प्रभाव छोड़ने वाली हो। आधुनिक पाश्चात्य रंगमंच की तरह कैनवस, गत्ते और लकड़ी की सेटिंग देने और पार्श्व संगीत तथा लाइट और साउंड के इफेक्ट इत्यादि की चर्चा बाद की चीज़ है। यदि हम स्पेशलाइज्ड रंगमंच की कल्पना से आरम्भ करें तो उसे साधारण जन-जीवन की चीज़ नहीं बना सकेंगे। जगदीशचन्द्र माथुर ने हिन्दी रंगमंच के तीन रूपों की कल्पना की है—यथार्थवादी, व्यावसायिक और देहाती। व्यावसायिक रंगमंच का विकास तो हमारे हाथों न होकर किन्हीं और लोगों के हाथों ही हो सकता है, पर समस्या-प्रधान यथार्थवादी नाटक और देहाती अभिनयों के लिए हम एक से रंगमंच की कल्पना लेकर न चल सकें, ऐसा नहीं है। यदि हम रंगों और ध्वनियों पर उचित ध्यान रख सकें तो साधारण से साधारण सेट पर खेला गया नाटक भी प्रभावशाली हो सकता है। दूर जाने से पहले हमें वर्तमान एमेच्योर रंगमंच के रूप का परिष्कार करने का प्रयत्न करना चाहिए। कई बातों में अभी तक हम पारसी कम्पनियों की विरासत लेकर चल रहे हैं। पारसी रंगमंच पर जहाँ पुरुष-कंठ से सीता-विलाप सुनना पड़ता था, वहाँ हिन्दी-भाषी प्रदेश के बहुत से भागों में आज भी शेव करके पाउडर लगाये हुए नवयुवक चारुमित्रा और अंजो दीदी का अभिनय करते दिखाई देते हैं। मिश्रित अभिनय के सम्बन्ध में बड़े-बड़े शहरों में तो लोकरुचि का संस्कार हुआ है, पर अन्यत्र बहुत जगह यह संस्कार होना रहता है। दूसरे, एमेच्योर रंगमंच से प्रांटर नाम के व्यक्ति को जितनी जल्दी हटाया जा सके, उतना ही अच्छा है। स्टेज पर आल-पिकर का प्रयोग होने से कई बार ऐसी-ऐसी आवाज़ें सुनाई दिया करती हैं :

प्रांटर की आवाज़ : हेमलता..तुम...आप पढ़े-लिखे हैं?

हेमलता : तुम...आप पढ़े-लिखे हैं?

प्रांटर : लोचन...पढ़ा-लिखा?

लोचन : पढ़ा-लिखा?

प्राप्टर : हाँ भी और नहीं भी...

लोचन : हाँ भी और नहीं भी...

प्राप्टर : अच्छा चलता हूँ।

लोचन : अच्छा चलता हूँ।

प्राप्टर : हाँ, यह तस्वीर आपने बनायी है?

लोचन : हाँ, यह तस्वीर आपने बनायी है?

प्राप्टर : हेमलता...कोई त्रुटि है क्या?

हेमलता : कोई त्रुटि है क्या?

दर्शक के कान में पड़ती हुई ये दोहरी आवाज़ें रसभंग ही नहीं करतीं, सारे वातावरण को उसके लिए अयथार्थ बना देती हैं। उपेन्द्रनाथ अशक ने अपने नाटक 'पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ' में प्राप्टिंग के परिणामों का अच्छा खाका खींचा है। हम इन छोटे-छोटे सुधारों से आरम्भ करके रंगमंच को अधिकाधिक सादा और सर्व-सुलभ बनाने का प्रयत्न करें तो निःसन्देह बहुत जल्दी निश्चित परिणामों की ओर बढ़ रहे होंगे।